ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 350-352

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सांस्कृतिक व्यक्तित्व : एक विवेचन

डॉ0 राजनारायण शुक्ल Email : yug_shilpi@yahoo.com

Received- 28.11.2020, Revised- 01.12.2020, Accepted - 04.12.2020

सारांश– ***संस्कृति का प्रवाह कभी रुकता नहीं । हम संस्कृति के प्रभाव में जब तक अपना योगदान देते रहते हैं, उसके साथ प्रवाहमान रहते हैं तब तक संस्.ति का अंग रहते हैं । जब हम अपने जीवन को समेट कर उस में विलीन हो जाते हैं, संस्कृति बन जाते हैं । रामधारी सिंह दिनकर का कहना है– "इसीलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं । अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है । और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसीलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।" द्विवेदी जी अखंड अनंत भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह के अग्रपुरुष पुरुष हैं । उनका संपूर्ण व्यक्तित्व सांस्कृतिक प्रवाह का उदाहरण है ।***

कुंजीभूत शब्द– संस्कृति की विरासत, भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह, अग्रपुरूष।

हिंदी विभाग, एस०डी०कॉलेज, गाजियाबाद (उ0प्र0), भारत

अनुरूपी लेखक

अज्ञेय ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को बीसवीं शताब्दी का बाणभट्ट कहा था। ऐसा केवल इसलिए नहीं कहा कि उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे सांस्कृतिक, ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की। वरन इसलिए भी ऐसा कहते वक्त उनके सामने हजारी प्रसाद द्विवेदी का सांस्कृतिक व्यक्तित्व ही उनके सामने था । जिस प्रकार मानव सभ्यता अपने कच्चे अविकसित, और विकृत स्वरूप को गढ़ती, सवारती, चलती हुई एक सांस्.तिक उत्थान की अवस्था को पहुंची है । उसी तरह बाणभट्ट भी वस्तुतः 'बंड' की अवस्था से आगे बढ़ते हुए समय और समाज के थपेड़ों को सहते हुए अपने कच्चेपन व अविकसित अवस्था का परिष्कार करते हुए समाज के उच्च आदर्शों को, मानवीय सौंदर्य को आत्मसात करते हुए जिस प्रकार बाणभट्ट की अवस्था तक पहुंचे, वही तो एक विकृति के संस्कृति बनने की प्रक्रिया को दर्शाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंधों और उपन्यासों में न केवल इतिहास पुराण, साहित्य से विषय उठाए अपितु उन्होंने लोक संवेदना के सभी स्तरों को समझ कर वहां तक पहुंच कर उसे कला, दर्शन और सभ्यता की मुख्य धारा के साथ जोड़ा भी है। उन्होंने संस्. ति के प्रवाहमान धारा में अपने को उड़ेला भी है और उससे आत्मसात भी किया है तभी तो बीसवीं सदी के बाणभट्ट बन सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन 1907 में उत्तरप्रदेश के एक गांव दुबे का छपरा जो बलिया जिले में है हुआ था। पिता पंडित अनमोल द्विवेदी संस्कृत एवं ज्योतिष के विद्वान थे। प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। पैतृक संस्कारों के कारण संस्कृत उनका आधार विषय बन गया। सन् 1930 में उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य की परम्खा उत्तीर्ण की। स्कूली शिक्षा समाप्त होने के बाद उन्हें शांति निकेतन में अध्यापक के रूप में पढ़ाने का अवसर मिला । यहीं से सन 1950 तक हिंदी भवन में निदेशक के पद पर रहे । इसी बीच 1949 में 'कबीर' पर गंभीर अध्ययन के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें पी.एच.डी की मानद उपाधि प्रदान की । 1950 में वे शांतिनिकेतन से काशी आ गए जहां काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में वे प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बनाए गए परंतु 1960 में उन्हें काशी हिंदू विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़नी पड़ी । जल्दी ही उनकी नियुक्ति पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में प्रोफेसर के पद पर हो गई। वह उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के कार्यकारी उपाध्यक्ष भी रहे ।सन 1957 में भारत सरकार ने पदमभूषण की उपाधि से अलंकृत किया। 19 मई 1979 को संस्कृति का यह प्रवाह महासागर में विलीन हो गया।

संस्कृति का प्रवाह कभी रुकता नहीं। हम संस्कृति के प्रभाव में जब तक अपना योगदान देते रहते हैं, उसके साथ प्रवाहमान रहते हैं तब तक संस्. ति का अंग रहते हैं। जब हम अपने जीवन को समेट कर उस में विलीन हो जाते हैं, संस्कृति बन जाते हैं। रामधारी सिंह दिनकर का कहना है– "इसीलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं। अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है। और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़

PIF-7.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

जाते हैं। इसीलिए संस्ति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।"[1] द्विवेदी जी अखंड अनंत भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह के अग्रपुरुष पुरुष हैं। उनका संपूर्ण व्यक्तित्व सांस्कृतिक प्रवाह का उदाहरण है। जिस तरह संस्कृति केवल राजप्रसादों में नहीं गड़ी जाती अपितु ऋषियों के आश्रम से निकलने वाली वेदध्वनि भी उसके प्राणों का स्वर होती है। संस्कृति राजदरबारों में होने वाली नर्तकियों के मदोन्मत्त कर देने वाले मयूर नृत्यो से ही नहीं कवियों की राज प्रशंसाओ से नहीं अपितु लोक गीतों में बह रही सामान्य जन की प्राणवन्त इच्छा में होकर भी बहती है। उसी तरह जीवन का सुख की संस्कृति नहीं जीवन का दुख भी संस्कृति के सोपानो को गढता है। द्विवेदी जी को जब हिंदू विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा था तो यह उनके जीवन का सबसे बड़ा संकट था। परिवार भी था जिसका आर्थिक भार उन्हें ही देखना था और उनके शुभचिंतक जो ऐसे संकट में उनसे विद्रोह की ओर संघर्ष की अपेक्षा कर रहे थे। पर उनके सामने विषय अपने परिवार का ही नहीं अपने अस्तित्व का भी नहीं अपनी संस्कृति का था अपने संस्कारों का था, जो वे अन्याय को चुपचाप निर्विकार भाव से पी गए। संकट में आपा नहीं खोया। संकट में संयम रखा। संयम भारतीय संस्कृति के मूल बिंदु में एक है। सांस्कृतिक मूल्यों का लगातार गढते रहना यही श्रेष्ठ मानवीय मूल्य है "अपने आपको द्रवित द्राक्षा की भांति निचोड़ कर जब तक सर्व के लिए नहीं निछावर कर दिया जाता तब तक स्वार्थ खंड सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है, और मनुष्य को दयनीय कृपण बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहास हो गया है, उसकी दृष्टि मलीन हो जाती है। वह स्पष्ट नहीं देख पाता, वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता परमार्थ तो दूर की बात है ।"[2]

उन्होंने काशी का 'त्याग' कर दिया। और शिवालिक की पादभूमि चंडीगढ़ चले गए। वह ऊपर से शांत और निर्विकार बने रहे। पर क्या अंदर से भी ? उनके अंदर एक झंझा प्रवाह चलता रहा। उन्होंने उन्हें कुछ नहीं कहा जिन्होंने उन्हें उखाड़ने के लिए कोई कसर छोड़ी नहीं। परंतु अपने अंदर के उपजे संघर्ष से वे लड़ते रहे। कहते हैं महान नदी नर्मदा के अंदर पड़े हुए पत्थर नदी की आंतरिक संघर्ष के उलट–पुलट होते हुए रगड़ खाते, टकराते, टूटते हुए और किसी से कोई शिकायत न करते हुए अंततः शंकर हो जाते हैं और लोक में वे शिवलिंग की तरह पूजे जाते हैं, संस्ति भी ऐसी ही बनती है। इस घटना ने द्विवेदी जी को 'शंकर' बना दिया। चंडीगढ़ में रहते हुए उन्होंने कुटज और देवदारू जैसे निबंध लिखें 'कुटज' में उन्होंने अपनी मनोदशा का संधान पाया। उन्हें वह अपने जीवन के निकट लगा और उसे "गाढे का साथी" बताया। वह कहते हैं "कुटज" को ही ले लें। बहुत छोटा सा ठिगना पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं।....

एक बार अपने झबरीले मुर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्प रतवक का उपहार चढ़ा देते हैं । और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल –भेदी जड़ों को दबाकर गिनिनंदनी सरिताओ को संकेत से बता देते हैं कि उसका स्त्रोत कहां है।[3] द्विवेदी जी की व्यक्तित्व साधना उनकी संस्ति साधन के मार्ग से चलती हुई उनकी साहित्य साधना में प्रतिफलित हुई।

इनकी साहित्य साधना बहुआयामी है उसमें दर्शन की गहराई है धर्म का विस्तार है, कला का आस्वाद है और लोक जीवन की संवेदना है। उन्होंने अपनी अनुभूति को जहां गंभीर विचारात्मक शैली में प्रस्तुत किया वहीं यह भी ध्यान रखा की भाषा दुरूह और जटिल ना हो पाए। अतः बीच–बीच में सरल सुबोध 'भाषा' और मनोरंजन शैली को उन्होंने बनाए रखा है। उनकी प्रतिभा हिंदी साहित्य के पूरे युग को प्रभावित करती है।" आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन साधना ने हिंदी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विज्ञान थे। साथ ही अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था। और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पांडित्य में सहजता का मणि कांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था। और वह अनायास ही जन ह्रदय से स्पंदित और आंदोलित हो उठते थे। उनकी विद्वता सरलता से सजग हो उठती है।" यह उनका अपना व्यक्तित्व ही था कि उनकी लेखनी ने एक पूरे युग के इतिहास का सांस्कृतिक बोध हमारे सामने रख दिया। उनके निबंध, हिंदी साहित्य का इतिहास, उपन्यास और आलोचनात्मक साहित्य सभी में एक सांस्तिक प्रवाह विद्यमान है। "हिंदी साहित्य की भूमिका (1940) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमांगत सामाजिक, सांस्तिक एवं जातीय सातय को देखना आवश्यक है इसके लिए आलोचक को अपनी जातीय परंपरा या सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध होना चाहिए। द्विवेदी जी में बौद्ध और पांडित्य का अद्भुत मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाज शास्त्रीय .ष्टिकोण के कारण उनका पांडित्य लचीला और वह आधुनिक हो गया है । मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था उनके पूर्व किसी आलोचक ने नहीं व्यक्त की थी ।"[4] द्विवेदी जी के सांस्तिक बोध में ठहराव

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

नहीं गति है । वह जानते हैं कि संस्कृति परिवर्तनशील है, संस्कृति प्रवाही है वह युगो युगो से प्रवाहित होती हुई नवीन और उच्च आदर्श मूल्यों को ग्रहण करती हुई आगे बढ़ती है। वह स्थिर वस्तु नहीं है किसी समय किसी परिस्थिति विशेष में कोई विचार या परंपरा समाज के प्रचलन में कुछ समय रह जाए तो वह संस्कृति या संस्कृति का अंग नहीं हो सकती। जैसे किसी परिस्थिति विशेष में अगर हमारा समाज सती प्रथा को स्वीकार करता है तो वह हमारी संस्कृति नहीं हो सकती। ऐसे विचारों के पुनर्मूल्यांकन के लिए, रुढियों के कसौटी पर कसने के लिए प्राचीन भारतीय समाज में ऋषियों ने व्यवस्था की थी । प्राचीन समाज में जब कभी कोई विचार कालवाह्य होने लगता था यह रूढि समाज व्यवस्था को तहस–नहस करने लगती थी तो देश भर में फैले हुए धार्मिक आचार्य, अध्यापक और ऋषि नैमिषारण्य तीर्थ में एकत्र होकर उस पर विचार करते थे। गंभीर चिंतन मनन करते थे और कालवाह्य विचार परंपरा या रूढि को समाज से निकालने की व्यवस्था करते थे। रुकी हुई व्यवस्था को संस्ति मानने का भ्रम जो समाज में फैलाया गया वह उचित नहीं है महादेवी वर्मा के शब्दों में "संस्कृति के संबंध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरंत निर्माण क्रम नहीं पूर्ण निर्मित वस्तु है इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते हैं, इस भ्रांति ने हमें जीवन के मूल तत्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामंजस्य पूर्ण संबंध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी।"[5]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. त्रिपाठी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, व्यक्तित्व और कृतित्व सं डॉव व्यास मणि पृ0 व 18
2. वही पृ० 19
3. वर्मा महादेवी, भारतीय संस्कृति के स्वरः पृ० 23
4. ग्रंथावली भाग–1 पृव 217 5. वही भाग –9, पृ0 32

*****